प्रमांक

अपने इसी शहर में

(कविता-संकलन)

डॉ. रामकिशन सोमानी

प्रकाशक

स्वाध्याय परिवार

(साहित्य-सर्जना-केन्द्र)

१५, शिक्षक नगर, विमानपत्तन मार्ग,

इन्दौर - ४५२००५

अपने इसी शहर में

संस्करण : प्रथम / सन् २०००
प्रकाशक : स्वाध्याय परिवार
(साहित्य-सर्जना-केन्द्र)
१५, शिक्षक नगर, विमानपत्तन मार्ग,
इन्दौर - ४५२ ००५
आवरण : संदीप राशिनकर
राजेन्द्र नगर, इन्दौर
शब्द संयोजन : शब्द सरोवर (प्रि.) प्रेस
एवं मुद्रण जी-९, पलाश कॉम्पलेक्स, २१७, खजुरी बाजार, इन्दौर
मूल्य : ८०/- रू.
कॉपीराईट : लेखकाधीन

APNE ISEE SHAHAR MAIN (Hindi)
By : Dr. Ramkishan Somani
Price 80/- Rs.

अपने इसी शहर मे

अनुक्रमणिका

समर्पण

मेरी रचनाओं की प्रथम श्रोता के रूप में
'समझ में आती है', 'अच्छी है'
कह कर अभिव्यक्ति को प्रमाणित करने वाली
मेरी धर्मपत्नी **सौ. रूकमणी सोमानी**
को
यह प्रथम काव्य संग्रह सस्नेह समर्पित।

कवि कथन

अपने इसी शहर में की कविताओं का आकाश उतना ही है जितना शहर का फैलाव है। इसमें वह अंतरिक्ष भी समाहित है जो मुझे इस छोटे से आक़ाश के पार दिख गया है। शहरी मानसिकता इन क़विताओं में सभी जगह विद्यमान है। सभी शहर एक जैसी मानसिकता में जी रहें हैं। उनका देश, उनका परिवेश, उनका आकाश, उनका विकास एक ही है और ये सब संवेदी मन को एक साथ प्रभावित करते हैं। अनुभूति, सामाजिक बुद्धि-क्षमता तथा परस्पर सबंधों के निर्वाह में व्यक्ति व स्थानीयता के कारण इस प्रभाव को ग्रहण करने तथा उसे अभिव्यक्त करने में थोडा बहुत अंतर आ जाता है किन्तु सोच के अंतर्प्रवाह में यह फर्क बहुत नही होता। इसलिए आकाश का फैलाव भले ही अपने शहर जितना हो लेकिन वह दूसरे शहर के आकाश से भिन्न नहीं होता। शहरों के आधार पर आकाश को खण्ड-खण्ड किया भी नहीं जा सकता। अपने इसी शहर का आकाश भी कोई अलग खण्ड नहीं, समग्र फैलाव के साथ एकाकार है।

अनुभूति की यह विवशता है कि वह अभिव्यक्ति में उस गहराई को नहीं प्राप्त कर पाती जो उसमें होती है। भाषा व शिल्प की कमजोरी उसका वांछित साथ नहीं दे पाती। अभिव्यक्ति व्यक्ति की क्षमता भी है और सीमा भी। इसको निरंतर बनाये रखना ही इसका विकास है। यह काव्य संग्रह इसी इच्छा का परिणाम है।

शहर के कई चेहरे होते हैं। वे सभी डरावने नहीं होते हैं। यह अलग बात है कि मुझे ये भयावने चेहरे ही बार-बार दिखे और शहर की आतंकित करने वाली छवि ही मेरे अंतर पर अंकित होती गई, यही मेरा यथार्थ बन गई। कविता में यही छवि उतर आई। दूसरी छवि भले ही विद्यमान हो किंतु वर्तमान का सत्य यही है कि मनुष्य की संवेदनाओं का क्षरण हो रहा है और तंत्र व्यवस्था निरंतर दुष्ट हो रही है। ये स्थितियाँ कविता की समाधि को बार बार भंग करती हैं , विचलित करती हैं। यह विचलन बहुत पीड़ाकारक है, अभिव्यक्ति के स्तर पर निर्बल व निरीह भी है। कविताओं में, साथ ही व्यक्ति

मे भी, सामाजिक निडरता का विवेकशील विकास अभी अपेक्षित है। इस कमी को मैं अपनी कविताओं में अनुभव करता हूँ। भाषा और भावों की शिलिष्टता से मेरी कविताएँ मुक्त नहीं हैं। मैं अपेक्षा भी करता हूँ कि वे सीधी और सहज हो जावे।

इस संग्रह की कविताओं में शहरी आँखों से देखा हुआ शहर है, मैं हूँ, परिजन हैं, परिवेश है, देश है, प्रकृति है, विकृति है लेकिन गाँव नहीं है। अपने इसी शहर से सभी शहरों के आकाश का अनुभव करने का यत्न किया है। यह प्रयत्न गीतों और कविताओं, दोनों में है। गीत मुझे अधिक प्रिय हैं। गीत की छन्द-छाया कविताओं में है। गीत फारमेट भी है और रचना के रूप में काव्य भी।

बंधुवर डॉ. गजानन शर्मा ने इन कविताओं पर मुक्त विचार लिख कर मुझे अनुगृहीत किया है। कविताओं के चयन में कवि श्री सुखदेवसिंह कश्यप एवं भाई रमेश महबूब का परामर्श मुझे मिला है। डॉ. शरद पगारे के निरंतर आग्रह भरे दबाव से ही काव्य संग्रह के प्रकाशन का साहस जुटा पाया हूँ। शब्द-संयोजन व मुद्रण द्वारा शब्द सरोवर के राजेश काबरा की विनयशील तत्परता ने इसे आकार दिया है। प्रसिद्ध चित्रकार संदीप राशिनकर ने संग्रह के शीर्षक को अपनी कल्पना और कौशल द्वारा मुख पृष्ठ पर साकार किया है। ये सभी बंधुजन मेरे इतने निकट आत्मीय हैं कि इनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना बड़ा अटपटा लग रहा है। नगर का प्रसिद्ध साहित्य-सर्जना-केन्द्र, **स्वाध्याय परिवार**, ने इस संग्रह के प्रकाशन का दायित्व निभाकर जो सौजन्य प्रकट किया है उसके लिए उसके सभी सदस्यों के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ। इस अवसर पर डॉ. हनुमंत मजुमदार, डॉ. दयाचंद जैन, डॉ. चन्द्रकांत देवताले, श्री चन्द्रसेन विराट, डॉ. कृष्णमोहन शर्मा, डॉ. पुरु दाधीच, श्री राजकुमार कुंभज, श्री सत्यनारायण सत्तन, श्री सौभाग्यमल जैन जैसे अनेको आत्मीय कवि मित्रों का स्मरण हो रहा है। जिनके साथ स्वाध्याय परिवार की साप्ताहिक बैठकों में वर्षों तक साथ बैठकर कविताएँ सुनने-सुनाने एवं समझने का भाईचारा गहरे से जुड़ा हुआ है।

डॉ. रामकिशन सोमानी

दीपावली/२००० १५, शिक्षक नगर, विमानपत्तन मार्ग, इन्दौर

इस शहर की सीमाएँ बहुत व्यापक हैं

कवि डॉ. रामकिशन सोमानी का रचना संसार एक बारगी अपने शहर तक सिमटा सा लग सकता है। यह सच भी है कि वे अपने शहर के बदलते चेहरे को बहुत सूक्ष्मता व गहरे से देखते हैं और उसका भावात्मक अंकन भी करते हैं। शहर की सकरी गलियां अब चौडी सडकें हो गई हैं लेकिन लोगों के दिल छोटे और मुख दिखनौटे हो गये हैं। शहर की फैली काया के साथ माया भी पसर गई है। दूषित हो रहे वातावरण में आत्मीय रिश्तों की परिभाषा स्वार्थ, झूठ और व्यवसाय आधारित हो गई है। जीवन का रस रीत गया है। अपने ही शहर की भरी भीड में इन्सान एकाकी और पराया हो रहा है। स्वयं को इस भीड में खोजने की नौबत आ गई है। भयाक्रांत चेतना में आतंक ने कोई छेद कर दिया है कि वह रिसकर आदमी को रिक्त कर रही है। कवि सोमानी ने अपने इसी घुटन, जलन और सुलगते मन को अपनी कविता मे पूरी शक्ति के साथ व्यक्त किया है। यह उसकी निराशा नहीं, वास्तविकता को अनुभव कर अभिव्यक्त करने का प्रयत्न है। वास्तविकता की ये कहानियाँ केवल कवि के शहर की ही नहीं हैं , हर गाँव, हर नगर, हर देश, हर महादेश की और पूरे विश्व की हैं। कवि का शहर तो केवल एक प्रतीक मात्र है।

समय बहुत निर्मम है और निर्लिप्त भी। वह अपनी सभ्यता स्वयं बनाता है, अपने मूल्य स्वयं स्थापित करता है। कवि सोमानी अनुभव करते हैं कि मूल्यों व आदर्शों के पारंपरिक पर्यायों का अब समय नहीं रह गया है। वर्तमान की सडी–गली लाश को कांधे पर उठाये घूमना और स्वयं को शिव समझना निरर्थक उन्माद के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। समय के इस क्षरण में धर्मयुद्ध लडने या अभिमन्यु बनने का भी कोई अर्थ नही रह गया है। तनाव और संत्रास भरी जिंदगी में धीमे–धीमे जहर पीते हुए मरने से तो बेहतर है इंसान अपने समय को, झूठ को स्वीकृति दे और जीने की सोची–अनसोची अटकलों से स्वयं को इस विद्रूप समाज में जिलावे। श्री सोमानी इसके लिए कोई आदर्श नहीं गढते हैं। उनका अभिमत है कि – मनुष्य उस पर प्रहार करने वाली तलवार की मुठ पर कसी हुई मुट्ठी को पहचाने। षड़यंत्री व्यवस्था की शातिरता को पहचाने। वह वायवी बन कर, अदृश्य रह कर आदमी से उसकी आत्मा तक को निचोड़ लेती है। कवि इसी आत्मा को निराट व विराट होने की बात कहता है। यह उसकी भावुकता नहीं है क्योंकि

वह अच्छे से जानता है कि मुक्त हुई आत्मा की कोई सीमा नहीं होती, नहीं हो, चुकी तलवार के सामने अपनी गर्दन और छाती को [illegible] बना लेने पर तलवार स्वयं अपने बचाव का रास्ता खोजने लगती है। श्री सोमानी ने अपने अनुभवों को, अपने वर्तमान की पूरी ताकत और पूरे कौशल के साथ अपनी कविताओं में व्यक्त किया है। अपनी ईमानदार अभिव्यक्ति के लिए वे बधाई के पात्र हैं।

संकलन की लंबी कविता 'प्रकृति के विपरीत' कवि सोमानी के काव्य-सामर्थ्य की पहचान है। इस कविता में कवि चिंतक और मानव जाति के भविष्य की चिंता करने वाले प्रबुद्ध व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत होता है। मानव के अंतर्मन पर चतुर्दिक से होने वाले प्रहार, सूखती संवेदना और करुणा, बिखरते संबंध, आदमी के आदमी बने रहने की संभावना का नष्ट होना, कल्याणकारी धारणाओं का जाति और धर्म में विभक्त होकर संघर्षरत होना, विज्ञान और अध्यात्म का संतुलन बिगड़ना, छाती के आकाश के छेद का बढ़ते जाना, वैश्वीकरण की झोंक में अर्थानुधावन और शस्त्रानुसंधान, तंत्र का षड्यंत्र में, नीति का जाल बुनने में और करुणा का सिक्कों में परिवर्तित होने के खतरों को कवि ने बताते हुए आज की अनुसंधानात्मक दृष्टि का अणु की अंधी सुरंग में प्रवेश करने को बड़ा विस्फोटक बताया है। पता नहीं कब किसी विक्षिप्त बटन के दबाव में त्रिकाल की युति टूट जाये, पृथ्वी आधारहीन होकर पथ भूल जाये और एक शून्य अंदर और बाहर सब कुछ घेर ले। प्रकृति के विपरीत विकृति आकार लेले। कविता की समाधि को ये स्थितियाँ बार-बार तोड़ती हैं। फिर भी, कविता के सिवाय इस विपरीतता को मोड़ने के लिए अन्य उपाय नहीं है।

संकलन में श्री सोमानी की भाषा प्रौढ व परिष्कृत है, प्रतीक व्यंजक और बिम्ब सार्थक हैं। कवि को छन्द सिद्ध है किंतु आवश्यकतानुसार छन्द को तोड कर वह अपनी रचना में एक नाद और अनुगूंज जगाने का सार्थक प्रयास करता है। उसकी लय कहीं नहीं टूटती– न अर्थ में, न शब्द में, न कविता में। यह कवि की सिद्धी है।

डॉ. श्री सोमानी का प्रथम काव्य संकलन आशा जगाता है। उनके काव्य के अन्य प्रकाशनों की हिंदी जगत् को प्रतिक्षा रहेगी।

३२, शिक्षक नगर,
इन्दौर - ४५२ ००५

डॉ. गजानन्न शर्मा,
पूर्व प्राचार्य, शास. स्नातकोत्तर महाविद्यालय (म.प्र)

अपने इसी शहर में–

जिसकी गलियों, चौराहों पर हमने गीत सुनाये,
अपने इसी शहर में हम तो हो गये आज पराये।

तब थीं छोटी सकरी गलियाँ, लोग न थे दिलछोटे,
अब तो चौड़ी सडकों फिरते केवल मुख दिखनौटे।
फैल गई है इसकी काया, माया पसर गई है–
रीत गई सब रस की बातें; रातें जहर हुई हैं।

ऊँचे भवन प्रेत से दिखते पीछे चाँद छिपाये।
अपने इसी शहर में ....

कर्कश कल पुर्जों की चीखें, धुन्द धुँए की काली,
कुन्द हवा में साँसें तन की करती हैं रखवाली।
सारा शहर शोर में डूबा, मन की वेणु उदासी–
ऐसे रहे, कि जैसे जल में मछली फिरे पियासी।

दूषित वातावरण, मशीनी जीवन है हमसाये।
अपने इसी शहर में......

रिश्तों की परिभाषा अब तो इतनी बदल गई है,
स्वार्थ, झूठ, बाते व्यापारिक दिल को निगल गई हैं।
हँसते हुए दाँत दिखते हें, मन कहीं नजर न आता,
भरी भीड़ में एकाकीपन प्राणों को डँस जाता।

नदिया नीर पी गई खुद का, कूल न पास बुलाये।
अपने इसी शहर में........

थाल परौसी रोटी जैसी राजनीति की चालें,
जीवन का घेराव कराती आये दिन हड़तालें।
नारे, झण्डे, डण्डे, जन से ऊपर ऊँचे बैठे,
छल-दल-बल वाले फिरते हैं अपनी मूँछ उमेठे।

या तो नेता या वोटर ही नजर शहर में आये।
अपने इसी शहर में हम तो हो गये आज पराये।



सूरज की किरणों से टूट एक अंश

सूरज की किरणों से टूट एक अंश
आखिरकर आज शाम कर बैठा दंश।

चंदन–सी धूप की
चादर जब ओढ़,
घूमा मैं शहर के
जहर भरे मोड़।

हँस–हँस कर गले मिला साँपों का वंश,
आखिरकर आज शाम कर बैठा दंश।।

मेरे 'मैं' होने पर
सबने की चोट।
मन के अणु–अणु में तब
भीषण विस्फोट।

सृजन हो चुका है जो मन का विध्वंस,
आखिरकर आज शाम कर बैठा दंश।

अपने ही रिश्तों से
बेगाना बोध।
छाया भी क्रूर हुई
लेती प्रतिशोध।

कृष्ण का हनन करके दल–बल का कंस,
आखिकर आज शाम कर बैठा दंश।



हर तरफ जब दंश

हर तरफ जब दंश करती है खड़ी दुर्भावना,
तब न जाने जी रहा क्यों, कौनसी सभावना ?

एक आशा कौनसी मेरे गले अटकी हुई,
खण्डहरों ज्यों रूह प्यासी चीखती भटकी हुई।
प्रेत जैसा वायवी अस्तित्व साधे चल रहा हूँ,
परिजनों के हाथ अग्नि ले चिता-सा जल रहा हूँ।

घटित हर क्षण हो रहा जब दृश्य एक डरावना,
तब न जाने जी रहा क्यों, कौन-सी संभावना ?

आस्था से जुड़, सरलता, खोजती अवचेतना,
उत्प्रेरती मुझको रही शुभकर्म की उत्तेजना।
उम्रभर चलकर पुनः पर लौट आया हूँ वहीं,
बिन्दु शुभ आरंभ का भी अर्थ कुछ रखता नहीं।

विस्थापितों-सी नियति लेकर घूमता हूँ अनमना,
तब न जाने जी रहा क्यों, कौनसी संभावना ?

घेरकर मुझको खड़ी उलझी हुई झूठी व्यवस्था,
चक्रव्यूह को भेदने जैसी नहीं मेरी अवस्था।
बिन लडे, जूझे बिना संघर्षरत हैं शक्तियाँ,
प्रार्थना में चुक गई सारी हृदय की भक्तियाँ।

कौन मेरे हित करेगा प्रार्थना, शुभकामना,
तब न जाने जी रहा क्यों, कौनसी संभावना ?
हर तरफ जब दंश करती है खड़ी दुर्भावना



अन्दर ऐसी बेचैनी है

अन्दर ऐसी बेचैनी है–
ऐसा सुलग रहा मन-कोना
जैसे रूई में चिन्गारी।
ऐसी टूट हो गई खुद में,
रिसने लगी चेतना सारी।
हृदयपिंड के मृदुल मांस में
चोंच गढ़ी कोई पैनी है–
अन्दर ऐसी बेचैनी है।
समय-सत्य के प्रश्न अनेकों
दिल दिमाग को कोंच रहे हैं,
घृणा भरे उत्तर बेबस हों
सिर्फ समर्पण सोच रहे हैं।
मेरे निर्णय की क्षमता को
छेद रही कोई छैनी है–
अन्दर ऐसी बेचैनी है।
शहर जहर से भरा हुआ है,
अँधियारी गलियाँ आतंकी,
पीठ खोजते फिरते चाकू,
थर-थर कँपी चेतना जन की।
ऐसी हुई शहर की गाथा,
पास बिठा तुम से कहनी है–
अन्दर ऐसी बेचैनी है।
लहुलुहान है अन्तर्मन तक,
घावों में काँटे गसते हैं।
तंत्र-जाल में फँसे सोच पर–
फंदे पर फंदे कसते हैं।
मुक्ति नहीं, केवल स्वीकृति है,
यही व्यवस्था अब सहनी है–
अन्दर ऐसी बेचैनी है।

लाशो का जुलूस

मरी हुई रोटी को
काँधों पर उठाये
लाशों का जुलूस,
अभी–अभी
इधर से गुजर गया।
पता नहीं
किधर यह जायेगा?
कौनसी दिशाएं ढूँढेगा?

पता नहीं–
ये लाशें
कौन से राम के सत्य का
नारा गुँजायेगीं ?
अपनी हड्डियों के खंख से
झाँकते गढों में
कौन सी आत्मा बिठायेगीं ?

पता नहीं क्यों
इन लाशों ने
अपने पेटों को बाहर निकाल
हाथों में थैली बना लिया/और
अपनी भूख की आग को

इन थैलियों में छिपा लिया ?
ऐसे ही
हाथो मे
पेट की थैलियाँ लटकाये
आँखों के गढों मे
भयानक आक्रोश छिपाये
लाशों का जुलूस
अभी अभी
इधर से गुजर गया ।

इस जुलूस ने
पोस्टरो पर लिखा है–
''शहर की सभ्यता को
चारों ओर से घेरेंगे,
आसमान पर अपनी
पेट की आग बिखरेंगे,
मनुष्यों के मुँह में
हाथ डाल
आँतों को बाहर खीचेंगे।''

तब से ही
आसमान तक तनी छतें
आपस में गले
मिलने लगी हैं ?
राजभवनों में कालीनों पर
जमी कुर्सियाँ
पास–पास खिसक कर
फुस–फुस करने लगी हैं ?
पता नहीं क्यों ?



कर्फ्यू

कर्फ्यू !
मरे हुए शहर की आवाज,
विधवा सड़क की उजड़ी मांग
रात में रोता हुआ –
सन्नाटा।

अफवाहों से घायल
बेकार चेतनाएँ।
शंकाओं की –
भीड़भरी उत्सुकताएँ।
गैलरी या खिड़की से
कूदकर
आत्महत्या करतीं–
अटकलें।

जीपो में दौड़ता हुआ सायरन,
गश्त देती लाठी की ठक–ठक,
अनजाने राही पर
मर्दानगी झाड़ती
गुलाम आवाज।
घर की कैद में
दम तोड़ता बच्चों का शोर।
कमरे से बाहर
झाँकता हुआ कुतुहल।
सड़क पर बिछीं
हजारो आँखें।
आमने – सामने
मकानों की बातचीत,
तनहाई की तनहाई/ भीड़ की भीड़

गोद में रोते हुए बच्चे की भूख,
पलग पर तड़पता मरीज का दुख,
छटपटाती गर्भिणी की
मर्मान्तक पीडा।
द्वेषभरी राजनीति का
क्रूर मजाक।

सब कुछ होते हुए भी
कुछ न होने का भास,
एक वाहियात बोरियत,
समस्या को नकारने का
मनहूस तरीका।



माँ नहीं है

माँ नहीं है
होती, तो शिकायत करता –
" तुमने मुझे प्रहलाद
और भक्त ध्रुव की
कथाएँ क्यों सुनाई थीं,
क्यों अपनी गोद में
मेरा बचपन रख,
घट्टी पीसते –
कबीर की वाणी गाई थी ? "
माँ होती तो पूछता।

माँ होती तो,
कहता –
" अगरबत्ती व गुलाब की गंध
पूजा करते तुमने
मेरी साँसों में भर दी थी,
अब काम नहीं आती।
इस धुँधयाये शहर में
तुलसी क्यारे पर दीप धर
कोई बहू अब संध्या गीत नहीं गाती।"
लेकिन माँ नहीं है।

माँ नहीं है।
होती, तो बताता –
" तुम्हारे गर्भ में
मिली शिक्षा के बल
मैं चक्रव्यूह में अकेला घुस गया
और, चौराहे पर
खड़े महारथियों से लडते हुए
टूटे रथ के पहिये पर
अपने ही लोगो के/ आघात झेलता रहा।"
मैं चिल्लाता रहा –
" निहत्थे से शस्त्र-युद्ध नीति नहीं है।"
किन्तु, कौन सुनता।

मैंने पिता से
यह सब कहा था
लेकिन,
उनकी ज्योतिहीन
मांस गली हड्डियाँ
मेरी रक्षा नहीं कर सकीं,
वज्र नहीं बन सकीं।
बन भी जाती, तो
इस शहर में
कितने वृत्रासुर मारती ?
माँ होती तो
पूछ लेता।



बेटे की सीख

कलम से
संघर्ष करना,
वाणी से
सीख देना,
अब संभव नहीं रहा।
विवेक की सीधी रेखा को
कुछ कुटिल करना ही होगा।
मेरे बेटे ने कहा—
अस्तित्व की रक्षा के लिए
ईमानदारी के खेत में
कुछ बीज
झूठ के बोना ही होगा।



बैसाखियों पर
चलने वालों के
पैर उग आये हैं
और वे
यात्राओं पर निकल पड़े हैं
स्वयं का इतिहास रचने।



छोड देगे.....

छोड देगें –
धीमे – धीमे जहर पीना
यों सोच तनावों में ..... क्यो, कब तक जीना ?

कब तक अपनी पीड़ा कह नहीं सकेंगे ?
चाहें भी तो, सादा रह नहीं सकेगे ?
टूट रहे हैं रोज
एक-एक ईंट खिसकाते–
कब तक
भूकंपित हो – ढह नहीं सकेंगे ?

लावे से भर रक्खे कब तक यह सीना ?
यों सोच तनावों मे क्यो, कब तक जीना ?

कब तक नहीं सुनेगा कोई
घर या चौराहे ?
कब तक फिरेंगे –
कंधों पर लटकाये बाहें ?
पूरा का पूरा सिर काट दिया, फिर भी –
कब तक घसीटे पैरों को
चाहे, अनचाहे ?

नहीं करेंगे खुद से, और जबरन जिना
यों सोच तनावों में क्यो, कब तक जीना ?

पहले हम खुद में
खुद को दफनायें,
फिर अन्दर सोये
प्रेत को जगायें।
छल से या बल से,
जीने की सोची
अनसोची अटकल से–
हम अपने खुद को
फिर से जिलायें।

जन्म नहीं, फिर से
हो मरजीना
यों, सोच तनावों में क्यों
कब तक जीना?
छोड देगें।



स्वीकृति दो

स्वीकृति दो अपने,
समय को, झूठ को।
दूसरों की जेब में,
हाथ डाल, लूट को।

स्वीकृति दो –
सडक पर निर्भय
नंगे उस चाकू को।
अपने ही बीच में,
पनप रहे डाकू को।

स्वीकृति दो, हिंसा में,
गाँधी की अहिंसा को।
झूठ में सच को,
सच की ही मंशा को।

स्वीकृति दो तब भी,
जब पेट तेरा काटे।
तेरी ही रोटी को,
तुझसे ही बाटे।
स्वीकृति दो ऐसों को
नमन करो बंदगी।
अर्थ नया समझो तुम
बदली है जिन्दगी।

स्वीकृति दो इसलिए कि
समय ही निर्मम है।
बहती हुई हवा का
बिगड़ा चरित्र है।
अभिमन्यु बनने की
इच्छा ही व्यर्थ है।
धर्म-युद्ध लड़ने का
नहीं कोई अर्थ है।

स्वीकृति दो माथे में
चुभे हुए शूल को।
जीवन में उग आये
मन के बबूल को।
भूल जाओ आँखों में
फूले पलाश को।
स्वीकृति दो, धुँधलाये
अंधे आकाश को।

प्रश्न नहीं इन सबसे
तुम कितना ऊबे हो ?
कुण्ठा में, ग्लानि में
कब कितना डूबे हो ?
क्या रक्खा अब –
इन बातों पर रोने में,
खुद के ही होते
खुद के ना होने में।

कबूल करो अपने
इस झूठे परिवेश को।
खुद की ही टूटन में
टूट रहे देश को।
भूल जाओ कोई
अपना आकाश है,
अपनी जमीन है,
अपना वातास है,
अपने ही लोग है,
अपना ससार है,
अपने ही परिजन हैं,
अपना परिवार है।
भूल जाओ

स्वीकृति दो अपने,
समय को, झूठ को।
दूसरो की जेब में,
हाथ डाल, लूट को।



समय
अपनी सभ्यता खुद गढ़ता है

देख लेना तुम
कल
लोग
रोटी से पहले
चाकू माँगेंगे
        रोटी व स्वयं की
        सुरक्षा के लिए।
चाकू
फिर और चाकू
चाकू की काट में चाकू
माँगेंगे कल के लोग
        निराश/हताशा में।
घर हो या बाहर
गाँव हो या शहर
देश हो या महादेश
कोई बच नहीं सकेगा
        इस व्यवस्था से।
अपनी सभ्यता खुद गढ़ेगा
        निर्लिप्त समय
बेशर्म, निर्मम अवस्था से
भय, आतंक
        क्रूरता के बीच से
                गुजरना
                हमारी विवशता नहीं,
                हमारी आदत होगी।



शहर में सभ्यता

हर सड़क आबाद लेकिन हर नजर सुनसान है,
आज अपनी ही गली में आदमी अनजान है।

एक वहशी-सी हवा सडकों पे निर्भय बह रही,
नींव तक भयभीत से कँपने लगे ये मकान हैं।

तेज चाकू, धौंस-दपटें, चेन-छीनी, मारपीट
इस शहर मे सभ्यता की अब यही पहचान है।

इस तरफ तो है सियासत और मजहब उस तरफ,
मोरध्वज के पुत्र जैसा कट रहा इन्सान है।

आह, पीडा, यातना, रंजो-अलम, आँसू-घुटन,
इस गृहस्थी में बचा मेरा यही सामान है।

क्या सजे दुल्हन, बजेगी किस तरह शहनाइयाँ,
खाचुकी महँगाइयाँ जब बाप का सम्मान है।



दर्पण मे देख

दर्पण में देख खुद को छलते रहेंगे कब तक ?
पहचान अपनी खुद से क.ते रहेंगे कब तक ?

बनकर जुलूस उनके, उनके उठाके झंडे,
अंधों से उनके पीछे, चलते रहेंगे कब तक ?

लडखाते पैर साधे, काँधों पर टाँगे बाहें,
अस्तित्व की लडाई, लड़ते रहेंगे, कब तक ?

भूखे हैं, सूखे तन से, हैं ठूठ जंगलों के,
बिन आग जल रहे हैं, जलते रहेंगे कब तक ?

ये हौसलें हमारे, ये ख्वाब जिंदगी के,
करवट तो हैं बदलते, लेकिन जगेंगे कब तक ?

सच कूद गया, डूबा, इस झूठ के समुद में,
सच के मरण की गाथा, कहते रहेंगे कब तक ?



ाँव नीचे

एक टूटी छाँव नीचे, एक झूठा सूर्य ले,
फिर करें प्रारंभ अपनी जिंदगी के सिलसिले।

भीड के जंगल शहर में, खो न जाये तू कहीं,
आ, किनारे से चलें हम, हाथ मेरा थाम ले।

तू जो अपनी आबरू को दोनों हाथों ढाँपकर
किसके खातिर सह रही है, अपने सर पर मुश्किलें ?

चल, यहाँ से उठ, यहाँ तेरी नहीं पंचाट है,
इस अदालत में निपटते उच्चश्रेणी मामले।

पोस्टरों को पढ नहीं तू, सुन नहीं नारे यहाँ,
गुमराह होने का नहीं बाजार से सामान ले।

तू शुमारे गम हमीं संग, हमसफर, हमदर्द है,
आ, मिटालें, बीच के जो कुछ रहे हों फासले।



रोशनी के उसूलों से घबरा गया हूँ

रोशनी के उसूलों से घबरा गया हूँ,
मैं अँधेरों के इतने करीब आ गया हूँ।

वो राहों की दावत, वे मंजिल के सपने,
खो गये हैं सफर में, मैं भटका गया हूँ।

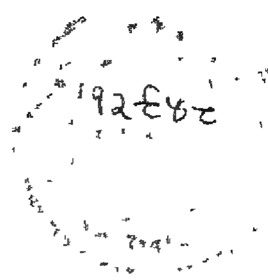
ये क्या खूब है, मैं चला था जहाँ से,
शाम होने से पहले वहीं आ गया हूँ।

जा किसे अब कहूँ ये बातें धुएँ-सी,
मैं घुटन हूँ, जलन हूँ, मैं सुलगा हुआ हूँ।

ले हाथों में खंजर, मुँह बदबू लहू की,
रूबरू तुम खड़े हो, मैं घबरा गया हूँ।



यज्ञ ध्वंस



मरे हुए वर्तमान को
कब तक और जियें,
कब तक उसकी लाश उठाए
चारों ओर फिरे,
स्वयं को शिव समझें ?
–सब....बेमतलब उन्माद।

ध्वस्त हुआ आयोजन
व्यर्थ हुई आहुतियाँ,
धूएँ-सी उठती हैं
खुद की ही विकृतियाँ।
दग्ध हुई शक्ति को
शीश कटा प्रजापति,
देख रहे विजितभाव
अपनी ही दुर्गति।
–गहराता अवसाद ।

इस विपर्यय में हुआ
फिर देव का आशीष,
सबके धड़ बैठ गये
मिमियाते शीश।
पुनः यज्ञ ध्वंस हुआ
मुश्किल अब साधना,
समसद् को रूप दे
जन-जन को बाँधना।
–सब.....कड़ुआ..... बेस्वाद।

गली हुई लाश के
अंग सब बिखरते हैं,
अंतस की परतों पर
दाग ही उभरते हैं।

कब तक इस बदबू को
घावों में ढाँप रखें,
सड़े हुए दर्द को
बिलकुल चुपचाप रखें।

–रिसता हुआ मवाद,
–गहराता अवसाद
–सब...कडुआ... बेस्वाद।



ोकतंत्र अग्निपक्षी है

श्य–१

देखा है तुम्हें भी–
लडते हुए एक युद्ध।

युद्ध ही था वह / जब
तुम निहत्थों ने
अंदर दबी हिंसा में
क्रूर होकर
सदन की मर्यादा का मर्दन करते हुए
उखाड लिये थे मेजों से
जड़े हुए माइक,
तोड लिये थे कुर्सी के हत्थे/हथियार बनाने,
फेंके थे/ बेखौफ/पेपररवेट
विपक्ष पर निशाना साधकर।

वीरता के इसी जोश में/ उस दिन
चिन्दा चिन्दा कर
उछाल दिया था
लोकतंत्र को तुमने
हमारे ही सामने।

एक घमासान मचा था/तब
एक ही देश के/एक ही प्रांत के
एक ही सदन के/तुम
दंभी वीर/ टूट पडे थे
खून के प्यासे बन/ एक दूसरे पर।

चले थे माइक

सन सनाते हुए,

घूमे थे हत्थे

बूमरेंग की तरह,

फोड़ रहे थे पेपरवेट

मेजों के पीछे/नीचे

बने बंकरों को।

कुहराम और हाहाकर के बीच
अपने दल के उत्तेजक जयकार के संग
जो भी घात-प्रतिघात हुए/वह
किसी युद्ध से कम न था।

वह किसी युद्ध से कम न था
युद्ध ही था वह
स्वार्थ की सुरक्षा का,
दल के बल का,
रचे गये छल का,
पद का, मद का,
मद में बढ चुके
अपने कद का।

उस युद्ध में तुम नहीं,
सर्वाधिक आहत

हम ही हुए थे।

हम,
जो कोई भी सदन नहीं है।

-२

देखा है
बार-बार देखा है
तुम्हारी दुधारी/वक्र
लंबी जबान को,
अपनी वाचालता की मार से
मर्दन करते सदन के मान को।

देखा है-
इस महान भारत के
संसदीय महाभारत में
तुम वाक्‌वीरों को
शिखंडी राजनीति की आड में
अपने अंदर की क्षुद्रता के पूरे तेज से
दूसरे की छिद्रता पर
प्रहार करते देखा है।

अपनी क्षेत्रीय क्षत्रपता के रक्षण में
तुम्हें
टुकडे-टुकडे करते देखा है
पूरे संसदीय अशोक चक्र को।

इसी टूटे चक्र का एक टुकडा लेकर
अपनी अस्मिता की रक्षा में
लडते व जूझते देखा है
लोकतंत्र को/और
अंततः
चिंदा-चिंदा हो
बिखरते देखा है उसे

राजनीति के साँचे – रामकृ
रचे गये कुचक्र में
समवीरों द्वारा अभिमंत्रित
आत्मघाती
मायावती विस्फोट से।

आत्यंतिक विषाद/व
शमशानी शोक में
देखा है
विस्तृत, विराट देश–भाव को
सिमटते/केवल
अपने दल तक
रचे गये राजनीतिक कुचक्र से
मिलने वाले सीमित, स्वार्थी फल तक।

बेबस थी अध्यक्षीय आसंदी,
निस्तब्ध व हतप्रभ थीं/ सदन में
दीवार टँगी कुर्बानियाँ,
रोता था
सत्यमेव जयते का सियारी शोर,
फैला था
पत्रकार दीर्घा में धृतराष्ट्री क्षोभ।

सब कुछ
निर्लक्ष्य, निरर्थक, निर्लज्ज, जघन्य।
सब कुछ
कटे शीश बर्बरीक की आँखों से
देख रहे थे हम
हम, जो कोई भी सदन नहीं हैं

हम, जो जानते हैं–
लोकतंत्र अग्निपक्षी है
जो जलता है तो
स्वयं की आग में।
पुनः जन्म लेना है तो
अपनी ही राख में।
हम तो
अग्निपक्षी के आकाश हैं
अनंत।



देश के दर्पण फूट रहे

नयन में धूमाच्छन्न आकाश,
लक्ष्य से भटका-भटका जोश,
भूलकर भले-बुरे का होश,
जवानी फेंक रही पत्थर।
देश के दर्पण फूट रहे,
देश के सपने टूट रहे।।

काँच की काया का यह देश
पारदर्शी है इसका वेश।
उसीकी परम्परा पर आज
कंकरी फेंक रहा आवेश।
स्वयं की संस्कृति के आगार
नई पीढ़ी से फूट रहे।
देश के सपने टूट रहे।

देश की आजादी के साथ,
चली थी निर्माणों की बात,
मगर जिसको सौंपा विश्वास
किया उस पीढ़ी ने ही घात।
बदलकर नवविकास का अर्थ
देश को लूट खसूट रहे।
देश के सपने टूट रहे।

इसी धरती माँ का अन खा,
जवानी का पौधा पनपा।
उसीने फल देने के नाम,
शीश पर पत्थर ही फेंका।
भ्रांत हो भ्रमित हुए भटके,
स्वयं के घर को लूट रहे।
देश के सपने टूट रहे।

स्वय पर विचारे

बहुत चल चुके हम
दिशाहीन होकर
नई राह अपनी हम स्वयं ही सँवारें।
तुम भी युवक हो,
हम भी युवक है,
चलो साथ बैठें, स्वयं पर विचारें।

स्वयं को कहीं छाँह नीचे बिठालें,
हम अपनी समस्या स्वयं देखे भाले।
कहाँ क्या कमी है ? असंतोष-कैसा ?
समझलें, हवा में न खुद को उछालें।

भटकती उमंगे कब तक बहेंगी ?
दोनों भुजा से बनालें किनारे।
तुम भी युवक हो,
हम भी युवक हैं,
चलो साथ बैठें, स्वयं पर विचारें।

नहीं रास आती विदेशो की नकलें,
बिगड़ी है इससे हमारी ही शकले।
नया चाहते हो, नया ही बनावें,
चलो, अपने ढंग पर जमाने को बदलें।

विचारों की अपनी नई आरती ले
माँ भारती की जय-जय उचारें।
तुम भी युवक हो,
हम भी युवक हैं,
चलो साथ बैठें, स्वयं पर विचारें।

पुराना नहीं हो, पराया नहीं हो,
जो कुछ भी सँवरे अपना यहीं हो।
विदेशों में जाकर दिखे भारती जो,
नई संस्कृति, ज्ञान अपना सही हो।

पश्चिम को ओढ़े सोयेंगे कब तक ?
स्वयं को जगाने, स्वयं ही पुकारें।
तुम भी युवक हो,
हम भी युवक हैं,
चलो साथ बैठें, स्वयं पर विचारें।

हमारे लिए स्वप्न उनने बनाये,
(जो) गुलामी में जन्मे, गुलामी का खाये।
उफनती हमारी नई शक्ति को जो
दिशाएं नई दे, नहीं बाँध पाये।

आजाद भारत की असली फसल हम,
चलो धूप खाएँ, पाला न मारे।
तुम भी युवक हो,
हम भी युवक हैं,
चलो साथ बैठें, स्वयं पर विचारें।



प्रार्थना

अंजली में समर्पित होता हुआ/गुलाब
समर्पण से पूर्व ही
पँखुरियों में बिखर गया।
आरती के लिये सँजोया हुआ
यह दीप
आरती-गान से पूर्व ही
शत-शत किरणों में लुट गया।

अर्चना में उठे
सुगंध के धूमिल रेशमी रेशे भी —
पुनः उलटकर/धूपदान में
समा गये हैं।

धूल में लथपथा गये हैं
मंदिर के कलश/नीचे उतरकर,
गर्भगृह में विराजित/आराध्य
चले गये हैं रसातल में।

विपरीतता की इस दशा में
हे माँ!
मंदिर का श्वेत कबूतर भी
आँगन में सूनापन छोड़
उड़ गया है।

गुलाब का चिंतन
दीप की संस्कृति
आराधना का अभीष्ट
सुगंध का सौहार्द
नहीं है/तो
देश हो या मंदिर
वहाँ पूजन कैसे होगा ?
वन्दन के स्वर कैसे फूटेंगे ?
निर्मल वातावरण के बिना
मंदिर में श्वेत कपोत
कैसे रह पायेंगे ?
ऑगन का सूनापन देख
शांतिपाठ के स्वर
टूट–टूट जायेंगे।

इसलिए प्रार्थना है –
गुलाब की एक–एक पँखुड़ी
हमारी अंजुलियों में डाल दो।
दीप की एक-एक किरण
अंतर में बाँट दो।
धूप के रेशमी रेशों से
आँगन सँवार दो।
यही प्रार्थना है –
शांतिपाठ के लिए
शक्ति का दान दो।



करुणा का मोरपख

(संदर्भ म.प्र.ओंकारेश्वर में वर्ष १९७३ मे नर्मदा नदी पर एक दुर्घटना में सैकडो जानो को एक मल्लाह की बेटी – सरस्वती ने – अपनी मयूर डोंगी से बचाने का अद्भुत एवं दुस्साहसी कार्य किया था।)

इस बदहवास,
स्वार्थलौलुप, कामांध
क्रूर सभ्यता में
करुणा का यह मोरपंख
कितना नरम,
कितना गरम,
स्पर्श देता है।
मेरे अन्दर
ठोस हुआ लौह आदमी
पिघलकर
'सरस्वती के साहस' के साथ
बहने लगता है।

उन्हीं
उफनाती, बेदर्द लहरों पर
कई अनाम मौतों के साथ
कुछ सौ जिदगियों के
बच जाने की कथा
लिखा गई है।
– यह सच कितना
रोमाञ्चक लगता है।

वह
मौत की ठण्डी छुअनभरी
पानी की सतह पर
चुभे हुए पेड़ों पर से
टँगी जिंदगियों को उतारकर,

अपनी 'मयूर डोंगी' में
भर लाई।
करुणा का यह मोरपंख
मेरे गालों पर फिर जाता है।
मौत के बगीचे से लौटा लाई गई
साँसों की गंध का सुख
मुझे रोमाञ्चित कर जाता है।
— कितना अजीब
रोमाञ्चक लगता है यह।

कितना अजीब
रोमाञ्चक लगता है यह, कि —
करुणा की यह शौर्य-कथा
उस पानी की लहरों पर
लिखी गई
जिसके बँटवारे के लिए
लोकतंत्री/कल्याणकारी
राजनीति
अपनी सीमाओं के सिर भिड़ा
आपस में लड़ती रही।

राष्ट्र की करुणा का यह
मयूर-पुच्छ
विवादों के भंवरों में
टूटकर डूबता रहा सदा।
और/कुँआरी नरमदा
अपनी छाती का दूध
न पिला पाने का दर्द लिये
सागर के गहरे कूएँ में
कूदती रही।

मौन

अधरों पर सबके ही
चिपका है मौन।

ईसा के क्रास-सा,
गले चुभी फाँस-सा,
गचता है मौन।
तोड़ेगा कौन ?

आँखों के प्रश्न कई
करते हैं दंश।
टूट चुका अंदर से
पांडव का वंश।
निर्वसनी सन्नाटा
ओढ़ा है कौन ?
पूछ रहा मौन।

सही सूत काते, वो
कौन है कबीर,
हाथी के पाँवों में
बाँधे जंजीर ?
माथे पर पैर रखे
खडा हुआ मौन
पूछ रहा—कौन ?

सड़कों से संसद तक
बेमतलब शोर।
होनी थी बात जहाँ
चुप्पी है घोर।

सूँघ गया साँप उन्हें,
कंपित जन मौन।

निर्णय है कौन ?
पूछ रहा मौन।



देह से निचुड़ी आत्मा

न्याय माँगने
उठे मेरे हाथ
तुमने खड्ग से काट दिये,
खींचली तुमने कानून की जमीन
मेरे पैरों के नीचे से।

नीचे गिरे
लहुलुहान शरीर पर
टूट पडे तुम
मेरी बोलती, प्रतिकार करती
जबान काटने।

मेरे दाँत,
हथियार बने।
लेकिन कबतक .... ?

संविधान को सीढ़ी बना
सिंहासन पर चढ़े तुम
राजदण्ड की मूठ पर मढ़े
सिंह को –
कसते रहे मुट्ठी से/और
निचुड़ती रही मेरी आत्मा
मेरी देह से।

मुक्त हुई आत्मा की
सीमा नहीं होती,
वह निर्भीक, निराट व
विराट हो जाती है।

तलवार नंगी हो गई

मौत के मानिन्द
उठी, तनी तलवार
मौत का भय तो
पैदा करेगी ही।

साथ ही, मुझमें
उसके प्रतिकार, अस्वीकार
का स्वर भी गुँजाएगी,
मेरी भृकुटियों को कसेगी
मुझमें ललकार भी जगायेगी।

जागेगा मेरी आँखों में
एक अदम्य तेज
मेरी आत्मा का,
मेरे विवेक, मेरी महत्ता का।

मोर्चा ले लेगें मेरे पैर
उस तलवार की काट में
मैं निर्दान्त
उदात्त भाव से
टूट पड़ूँगा, उस पर।

तब,
मेरे सामने होगी, बस
वह तलवार
स्वयं अपने ही प्रतिकार में।

पहचान लिया है मैंने
उस तलवार को,
उसकी मूठ पर,
कसी हुई सत्ता को
वह
म्यान से निकलकर
नंगी हो गई है।
करेगी बचाव स्वयं का
लौह हुई छाती व
गर्दन के सामने।



प्रहार को भी ठोस लक्ष्य चाहिए

निश्चय किया
तुम पर मुष्टिका प्रहार करूँ,
—तुम लकड़ी के हो गये।

सोचा —
तुम्हें
आरे से चीर डालूँ
—तुम लोहे के हो गये।

तय किया/तुम पर
भारी घनों से निरंतर
आघात पर आघात करूँ
—तुम अदृश्य हो गये।

मौजूदा व्यवस्था के तुम,
सिद्ध पुरुष
मैं,
मंत्र — षडयंत्र से हीन
जन,
तुम्हारे वायवी हो चुके शरीर पर
कहाँ
कैसे प्रहार करता ?
मैं सोचता रहा।

आखिर
प्रहार को भी
एक ठोस लक्ष्य चाहिये

प्रतिशोध

तुम जरा ठहर जाते/तो
भरी धूप में बनी
तुम्हारी परछाई के माथे पर
प्रतिशोध की कील ठोक देता।
लेकिन,
तुम्हारी निरंतर बढती गति से
मेरे हाथ आई तुम्हारी परछाई
बार-बार मेरी पकड से
छूट जाती है।

आखिर कब तक
इस निचाट धूप में/तुम्हारी
नंगाई देखता रहूँगा ?

काश ! तुम ठहर जाते
और मैं
परछाई के सिर को
पैरों से कुचल लेता।

तुम एक बार भी ठहर जाते/तो
मेरे आकाश की
रग-रग को तोड़ता हुआ
तुम्हारा अट्टहास
तुम्हारी परछाई से
निचोड़ देता।
तुम्हारे व्यक्तित्व को
हाथों से पकड़
तिनके सा तोड़ देता।

लेकिन
मेरे इसी सोच के बीच
तुम इतने ओछे हो गये
अब, अपनी परछाई भी
बनने नहीं देते,
लोगों को अपना कालापन
दिखने नहीं देते।

और
इस बार तो/तुमने
आँखें ही पलट दी हैं,
उसकी एक टेढ़ी अनी
मुझमें चुभकर टूट गई है।
मेरे पसीने-पसीने हुए
हाथों में आकर
तुम्हारी परछाई छूट गई है।

मेरे क्रोध को/तुमने
भरी धूप में
नंगा कर दिया है।



मेरा सिर जयद्रथ का नहीं है

फिर मेरा सिर
कटकर धूल में गिर गया है।
काश ! मेरा सिर जयद्रथ का होता।

मेरा सिर जयद्रथ का नहीं है।
होता तो, जमीन पर गिरकर,
काटनेवाले के
सिर के सौ टुकड़े कर देता।

मेरा सिर जयद्रथ का होता/ तो
इतनी आसानी से नहीं कटता,
एक व्यूह की रचनाकर
उसकी रक्षा
दुर्योधन करता।

मेरा सिर
अर्जुन ने भी नहीं काटा,
वह होता तो,
सिर कटता नहीं,
मेरा व्यक्तित्व
दो हिस्सों में बँटता नहीं।

अर्जुन की जगह कोई दूसरा
क्यों काटता है मेरा सिर ?

मुझे तो हर बार
कटे सिर को धूल से उठा
टोपी-सा पहनना होता है।
हर बार, हर दूसरा –
मेरा सिर काट
टोपी-सा उछाल देता है।

बार बार कटा सिर
धूल से उठाने,
टोपी सा झाड़ उसे
धड़ पर बिठाने से अच्छा है—
मैं केवल धड़ रह जाऊँ
और भीड़ में खो जाऊँ।



ठण्डी-सी घाम

खिड़की पर झुकते ही धूल भरी शाम
कमरे में आ बैठी ठण्डी-सी घाम।

सुबह-सुबह प्याले में खुद को ही पीती-सी,
स्वप्नों को चोंच दाब चिडिया इक उडती-सी।
दुपहर-भर मंडराकर ऊँचे-औ-ऊँचे
चील-सी कगूरे पर करती आराम।

कमरे में आ बैठी ठण्डी-सी घाम।

रोज-रोज दफ्तर से थकी-झुकी आती है,
दफ्तर की अलपीनें मन में धर लाती है।
अफसर के हुक्म जैसे सख्त हुए जीवन का-
पत्नी के चेहरे पर खोजती विराम।

कमरे में आ बैठी ठण्डी-सी घाम।

उजली-सी देह पर नीली परछाइयाँ,
आँखों में बच्चों की चुभती किलकारियाँ।
छप्पर से निकल रहे चूल्हे के धूएँ-सा,
सूने में खो जाना केवल परिणाम।

कमरे में आ बैठी ठण्डी-सी घाम।



हर रोज मैं

हर रोज मैं
अपने सूनेपन को
आकाश करता हूँ,
कमरे की ऊब मिटाने/रोज शाम
उसमें चाँद और तारे भरता हूँ।
लेकिन हर सुबह
मेरी गोद में/फिर
जलता हुआ सूरज आ जाता है।

रोज सुबह मेरे थके पैर
जागते हैं,
टूटा मन मजबूरन
पुनः जुड़ता है/ और
कुर्सी की बैसाखियों पर टिक
अपनी उम्र को
प्याली में पीता है।

रोज-रोज मेरा व्यक्तित्व
कुछ टुकड़े कमाने जाता है
सुबह छपी
अखबारों की खबर जैसा
शाम तक मर जाता है।

हर रोज
शहर का नंगापन
मेरे कमरे में घुस आता है
घूरने लगता है
मेरे चाँद और सितारे
टूट जाते हैं बेचारे
इस नंगेपन के सामने
उन्हें लडना कहाँ आता है।

इसी तरह/रोज
मैं शून्य हो जाता हूँ,
कमरे का सूनापन,
स्वयं में भरता हूँ,
रोज उसे मैं
फैला-फैलाकर
आकाश करता हूँ।



गृहपति

मेरे अदर का
गृहपति
बार बार अपराध-भाव से
भर जाता है।

मेरी योग्यताएँ –
मेरी कर्मठता, क्षमता,
मेरी बेकार आँखों में
अपनी उँगलियाँ
घुसेड़ देती हैं।

पत्नी पकड़ा देती है –
हाथों मे झोली।
बच्चे मांगने लगते हैं-
स्कूल की फीस।

एक पति अन्दर ही अन्दर
एक पिता को कोसने लगता है
और –
कसे हुए ओठों को
तोडने लगती है/ गले से
निकलती भाप।

मेरे बच्चों का पिता
फैला देता है हाथ –
व्यवस्था के सामने।
कन्न-कन्न कर
गिर जाती हैं
दीवार पर टँगे दरारों भरे दर्पण
फिर

किससे सुनें, कहें ?

अकेले एकाकी है हम,
और दुनिया के सारे गम

कैसे, कहो सहे ?

अधरों पर ईसा का क्रास
बैठे ना जब कोई पास–

बात तब,
किससे सुने, कहें ?

अपनी ही खींची कारा में,
लावे की बहती धारा में

खुद की डूब बचाने को
कितनी दूर बहे ?

रह–रहकर ईंटें खिरती हैं,
मंजिल पर मंजिल गिरती हैं,

टूटकर कितना और ढहें ?
अकेले एकाकी है हम . ..



कॉंटों के बीच जिंदगी

अपनो के बीच अजनबी,
होना ही पड़ता है कभी-कभी।

झूठे हो जाते जब पाये विश्वास,
चुभने जब लगती है, शंका की फाँस
सच्चाई साक्ष्य बने, खुद के विपरीत –
ओठों पर चिपकाती ईसा का क्रास।
झूठों के बीच मौन भी,
होना ही पडता है कभी-कभी।
अपनों की बीच अज़नबी...

सॉंपों को लिपटाये चन्दन की ओट,
करते हैं पीछे से जहरीली चोट।
बाहर से पास-पास, भीतर से दूर,
रिश्तो के बीच खिंची मीलों की कोट।
ऐसो के अनचाहे पास भी
रहना ही पड़ता है कभी-कभी।
अपनों के बीच अज़नबी.....

हम अपनी खुशबू को फैलाएँ क्यों ?
अपनों के उपवन को महकाएँ क्यों ?
हैं कर लिये कबूल, जब उनने बबूल –
गलती पर उनकी हम समझाएँ क्यों ?
कॉंटों के बीच जिंदगी –
बोना ही पड़ता है कभी-कभी
अपनो के बीच अज़नबी
होना ही पड़ता है कभी-कभी।।१।।

ताश के पत्ते हैं हम

ताश की तरह फेंटकर
बाँटने से/हरबार
संबंधों के पत्ते
बदल जाते हैं।

इस तरह पैदा हुए
हर नये समीकरण से/हम
एक दूसरे की काट करते हुए
बाजी जीत ले जाने का खेल खेलते हैं।

कैसी विडम्बना है ...
जीतने की दुराशा में
हम अपना अस्तित्व खो देते हैं,
और दूसरों के हाथों फेंटे जाकर
कभी ट्रम्प, कभी इक्का, कभी बादशाह
व कभी गुलाम बन जाते हैं।
हर बार ऐसा ही होता है।

हर बार ऐसा ही होता है –
बाजी समाप्त होते ही, हम
फिर पत्ते बन जाते हैं
ताश की बावन पत्तों वाली गड्डी में
कहीं न कहीं समा जाते हैं।

अंततः हम पत्ते ही हैं।
पत्ते ही हैं हम,
बिना फेंटे, बिना बाँटे,
बिना खेले, बिना काटे/हम
रह नहीं सकते।
ऐसे में कुछ और भी होने का,
हमें अहसास नहीं होता।

युग सन्दर्भो का रहा नहीं

तुम अतीत में झाँक नहीं पहले सा अर्थ कहो
युग सन्दर्भो का रहा नहीं, अब इतना बदल गया।

पहले जैसी अब मन की वह उपपत्ति नहीं रही,
हम ज्योमेट्री के कठिन साध्य की नई कल्पना है।
सीधी रेखा-सा जीवन को हम खींच नहीं सकते,
घर के आँगन में त्रिभुजोंवाली नई अल्पना हैं।

हमें सिद्ध करने खातिर पिछले सिद्धांत न हों,
युग परम्परा का रहा नहीं, अब इतना बदल ग

अनुभूति मात्र हैं हम केवल अपने अस्तित्वों की,
उपलब्ध हुए इस जीवन की हम कीमत आँक रहे।
हैं खोये से हम भरी भीड में खुद को खोज रहे,
हम अपनी ही परतें उघाडकर अन्दर झाँक रहे।

अन्तस के नव परिचय में कुछ नूतन अर्थ कहो
युग पर्यायों का रहा नहीं, अब इतना बदल गय

कोई बिखरन, कोई भटकन बिन्दु-बिन्दु में है,
फिर भी कोई क्रम, कोई गति है, कोई जीवन है।
बाहर तो हम संधिपत्र के हस्ताक्षर बने हुए,
अन्दर तनाव से तनी हुई रग-रग में टूटन है।

संवेदित हम बिंदु-बिंदु का एकीकरण न हो
युग समझौते का रहा नहीं, अब इतना बदल ग

यों तो अतीत की रेखाएँ तन को छू लेती हैं,
लेकिन भविष्य को कोई टूटा सपना निगल गया।
आकाश पकड़ने के यत्नों में साँसें बिखर गईं,
यह वर्तमान, हाथों में आ मछली–सा फिसल गया।

शून्य हुए क्षण जी लेने को कुछ भी अवलंब न हो,
युग आदर्शों का रहा नहीं, अब इतना बदल गया।



मने सौ–सौ बार मुझे यह समझाया है

तुमने सौ–सौ बार मुझे यह समझाया है–
यों अतीत में खो जाना तो नहीं जिन्दगी।

पर, भविष्य की रेखाएँ खिंचकर रह जायें,
मुखरित होकर रंग नहीं उनमें भर पाये,
पथ की उज्ज्वलता भी मन को भरमाती हो
और लक्ष्य की दूरी, दूरी ही रह जाये।

तब कोई क्यों अपने मन को समझायेगा
यों अतीत में खो जाना तो नहीं जिन्दगी।

वही-वही क्रम दुहराये जब प्रतिदिन, हरक्षण
एक माप से ही मप जावें पिछला जीवन।
नियत समय में, नियत काम के बन्धन हों ज
फिर कैसे कुछ अर्थ रखे युग का परिवर्तन ?

आंमत्रण पर परवशता जब पंथ रोक ले–
तब अतीत में खोजाना तब क्या नहीं जिन्दगी ?

आगत के संकेत न जब कुछ कह पाते हों,
और स्वप्न के महल व्यर्थ ही ढह जाते हों,
वह चेतनता, जो रूपम नया सजा पाती–
उस पर ही चिंतन के बंधन बँध जाते हों।

तब उसकी तड़फन का, मजबूरी का, ए
यों अतीत में खो जाना क्या नहीं जिंदगी

जब चिंतन में भाव दर्द का बढ़ जाये
जब उलझन की परतों पर परतें चढ़ जायें,
जीवन की गति बन जाये जब मौन विवशता
पगडंडी पर चलने तक सीमित रह जाये

तब नई उमर का नयनों में भटकन लेकर–
- यों अतीत में खो जाना क्या नहीं जिन्दगी ?

वैसे सौ-सौ बार तुम्हीं ने समझाया है–
यों अतीत में खो जाना तो नहीं जिन्दगी।



वह नहीं हूँ मैं

जो प्रदर्शित हूँ भरे बाजार में
वह नहीं हूँ मैं,
छू जिसे पहचान लो, बोलो
वह नहीं हूँ मैं।

पारदर्शी हूँ, मगर तुम देख कब पाते ?
वायवी अस्तित्व समझे तुम गुजर जाते।
जिस जगह मैं काँच-सा कुछ सख्त होता हूँ-
बस, वहीं पर कंकरी तुम फेंकते जाते।

तडककर, गिरते हुए टुकड़े, दिखाऊँ मैं-
वह नहीं हूँ मैं
छू जिसे पहचान लो, बोलो
वह नहीं हूँ मैं।

खुद तुम्हारे बीच अपरिचित-सा रहा हूँ,
मैं हाथ, दृष्टि, विवेक से भी अनछुआ हूँ।
बहुत मुश्किल है सरलता को समझ पाना,
मैं कबीरी साखियों-सा सहज सीधा हूँ।

पर, पढ़ो मुझको, महज इक अर्थ खोजो तुम,
वह नहीं हूँ मैं।
छू जिसे पहचान लो, बोलो
वह नहीं हूँ मैं।

झूठ का ले तंत्र करते सिद्धि की बातें,
मंत्रमारण तुम चलाते बुद्धि पर घातें।
शक्तिपीठों पर चढ़ी अंधी व्यवस्था से-
तुम मनुष्य का हृदय लोहित गिद्ध बन खाते।

बुद्धिजीवी हूँ, मगर तुम पर समर्पित जो-
वह नहीं हूँ मैं।
छू जिसे पहचान लो, बोलो
वह नहीं हूँ मैं।

निर्बंध होते इस समय के क्रूर क्षण में,
तुम जी रहे विश्वास के , मन के क्षरण में,
मैं लड़ूँ भी क्यों तुम्हारे प्रेत के तन से,
इस शून्य के, व्यामोह के वातावरण में।

मैं तुम्हारी ही तरह निर्मूल्य हो जाऊँ ?
वह नहीं हूँ मैं
छू जिसे पहचानलो, बोलो
वह नहीं हूँ मैं।
जो प्रदर्शित हूँ भरे बाजार में
वह नहीं हूँ मैं।



मेरे अंतरिक्ष में ....

एक भूख पेट में, आँतों में,
एक भूख अन्तस् की पाँतों में,
एक भूख सरकती जाती है
ऊपर–ऊपर मेरी जांघों में।

इन सबकी इकाई से
एक युद्ध ... रोज रात –
मेरे अन्तरिक्ष में होता है।

"भूख के गहरे गढ़े से
एक गोला
ऊपर को छूटता है,
मस्तिष्क के
सहस्रों टुकडे कर
मेरे ग्रहों पर टूटता है,
और
कुण्डली से एक-एक घर
खाली कर
अंकों को
अन्तरिक्ष में फेंक देता है।"

– मैं अपने बिस्तर पर
बिखर-बिखर जाता हूँ।

"अंत हुए युद्ध की नियति
अट्टहास करती
मेरे भावों से
उबलता रक्त पीती है।
निर्विकार भाव से
भूख
मेरे हृत्पिण्ड के मांस में
चोंच गढ़ा देती है।
एक भेड़िया आकर
मुझे नीचे से कमर तक
खा जाता है।"

—एक करवट मुझे/बिस्तर पर
इधर से उधर बदल देती है।

"सारा आकाश
दहशत और कम्पन से भर जाता है,
विस्फोटों से उठा प्रकाश
भविष्य को निगल जाता है,
चौंधियाई आँखों में
सिर्फ उजेला ही उजेला है,
कहीं भी ग्राम, नगर या आदमी
दिखता नहीं।
हाँ, चट्टानों पर
धूँए से
उनकी आकृतियाँ उभर आती हैं।"

—तकिये में मेरा सिर
बहुत गहरे गढ़ जाता है।

"धूँए सा मै भी
अपने ही अंतरिक्ष में
बहुत,
बहुत ऊँचा
उठता .... उठता .... उठता
सहसा
गिर जाता हूँ
और
गिरता ... गिरता .... गिरता
चला जाता हूँ।
एक चीत्कार
अंतरिक्ष में
उठकर खो जाती है।"

—मैं बिस्तर पर उठ बैठता हूँ
पसीने से लथपथ बाहर देखता हूँ—

क्षितिज पर से उठकर
सूरज
धीरे-धीरे कमरे में आता है
दीवार पर टँगे केलेण्डर पर
एक जनवरी की तारीख बदल
पास ही
लाठी के बल टिकी
गाँधी की झुकी मूरत
सीधी कर जाता है।



र के विपरीत

हर दिशा से/कई चाकू
घुस रहे हैं अंतर्मन तक
काट फेंकने उसे।

गहरे तक छेद कर
उतर रहे हैं बर्मे/ दिमाग में
खींचकर सत्व
उसे खोखल बनाने
धरती के समान।

कटने लगी हैं/संवेदनाएँ
सूखी घास जैसी
बंजर होने लगा है-
मन
धीरे-धीरे
अपनी प्रकृति के विपरीत।

अपनी प्रकृति के विपरीत/जंगल
उगने लगे हैं मन में/दूर तक
जलने लगे हैं/ अपनी ही आग में
जलने लगी हैं/ सम्भावनाएँ
आदमी बने रहने की।

संबंधों के अवयव
बिखर गये हैं/ इधर-उधर
अधजले ठूठों-से।
एक शून्य घेरने लगा है सब कुछ
धीरे-धीरे।

धीरे-धीरे / सूखकर
खड़ा हो गया है
अंतस का झरना/पथराया सा
देख रहा है
सदियों से बहती
करुणा को सूखता
स्खलित पर्वतों के
मूल्यों को टूटता
रेतीले बियाबान में
यहाँ-वहाँ
समय को उड़ता।

अंदर और बाहर
आकार लेने लगी है/विकृति
प्रकृति के विपरीत।

प्रकृति के विपरीत
स्वयं से कटकर/जड़ें
खोदने लगी हैं आदमी को।

विकास की अनेकांत गाथाएँ
धार्मिक यात्राएँ
पथ विचलित हों
उतर रही हैं/ गहरे
काल विवर में।

पंख फैलाकर आकांक्षाएँ
पहुँच रही हैं
ग्रह–नक्षत्रों तक/ अपना आवास खोजने।

दृष्टि ने अणु–अणु में
प्रवेश कर/खोज लिया है
अंधी सुरंगों को
मुहानों पर जिनके
खड़े हुए हैं/विस्फोटी राक्षस
अंतरिक्ष तक सर उठाये।

कल्याणकारी
धारणाएँ/बँट गई हैं
जाति और धर्म में
खड़ी हो गई हैं
आमने–सामने
तलवारें भाँजकर।

बिगड़ने लगा है/ संतुलन
विज्ञान और ध्यान का।
सुलग गया है भविष्य
                रूई–सा
उठने लगा है धुआँ
                काल–सा
बढ़ने लगा है छेद
छाती के आकाश का।

वामन हो गया है
उन्मोचित विराट
वैश्वीकरण की झोंक में/
अर्थानुधावन
व
शस्त्रानुसंधान ने
कर दिया है बदरंग
एटलस को।
तड़कने लगी हैं
सीमाएँ/नक्शों की
बदलने लगी हैं शक्लें
आशंकित, दहशतजदा
जन-जन की।

तंत्र बदलने लगा है -- षडयंत्र में
मंत्र होने लगा है-- मारक
लोक चालित है-- राज से
नीतियां बुनने लगी हैं -- जाल
करुणा विगलित हो-
बहने लगी है--सिक्कों में
अपनी प्रकृति के विपरीत।

प्रकृति के विपरीत
अब भी कायम है
आदमी,
रेखा खिंच रही है
विकास की

विनाश!
काट रहा है रो
चौराहे पर/धीरे–धीरे
भटकाव
खडा हो गया है/वहाँ
इतिहास खो बैठा है दिशा
चिंताहीन वर्तमान
देखने लगा है/सदी को
प्रवेश करते अंधी सुरंग में
मुहाने पर जिसके खडे हैं
अंतरिक्ष तक सर उठाये
विस्फोटी राक्षस /जो
किसी विक्षिप्त बटन के दबाव में
तोड देंगे/युति त्रिकाल की/एक दिन

एक दिन
नीचे से निकलकर
सहस्रमुख शेषनाग
चढ बैठेगा पृथ्वी पर/धीरे–धीरे
डिगने लगेगी वह
अपनी कक्षा से
झुक जायेगी और,
अपने अयनांशों से।
धुरी पर उसका घूर्णन
बन जायेगा भटकन/ एक दिन
वह आधारहीन हो
अंतरिक्ष में पूछती फिरेगी
अपना पथ
ग्रह–नक्षत्रों से।

होगा एक दिन यह सब
एक शून्य घेरेगा सब कुछ
अन्दर और बाहर
आकार ले लेगी/विकृति
प्रकृति के विपरीत।

प्रकृति के विपरीत
घुसने लगे हैं चाकू
अंतर्मन तक
बर्मे छेदने लगे हैं
दिमाग को
कटने लगी हैं संवेदनाएँ
घास-सी
जलने लगी हैं सम्भावनाएँ
आदमी बने रहने की।

फिर भी
बैठा हुआ हूँ मैं
बार-बार टूटती समाधि में
कविताओं के ढेर पर
प्रकृति के विपरीत।



मुझे कुछ भी अजीब नहीं लगेगा

मुझे कुछ भी अजीब नहीं लगेगा।
यह घूमती हुई धरती सहसा
आकाश की बाहों में उड़ जाये,
या
अपनी कक्षाओं को छोड़
सारे ग्रह
मेरे घर पर इकट्ठे हो जायें,
मुझे कुछ भी अजीब नहीं लगेगा।
बवण्डरों से भरे आसमान से
बादलों की रगें
तड़क-तड़क कर टूटें,
समन्दर अपनी विकराल जिह्वाओं से
रक्त उगलने लगे,
युगों से
आदमी का पाप लादे/ये पर्वत
टूट, नदियों में गिरने लगें,
या
रास्ता बदलती नदियों के जल में
किनारे बसी सभ्यताएँ
फिर डूबने लगें,
या
एक-एक क्षण में करोड़ों मनुष्य
भूकम्प से फटती दरारों में
समाने लगें,
या
ज्वालामुखी के लावा से राख में
बदलने लगें,
मुझे कुछ भी अजीब नहीं लगेगा।

प्रकाश बनने से पूर्व की स्थिति में
दिन व रात एक हो जायें,
या
चन्द्रमा और सूरज की आँखें फिसल
धरती पर गिर जायें,
चाहे, आकाश की छाती में हुआ छेद
मौत उगले,
चाहे, सूर्य की सीधी किरणों से पृथ्वी
अंतरिक्ष में धूँ-धूँ कर जले,
मुझे कुछ भी अजीब नहीं लगेगा।
हाँ, होगा/ऐसा ही
सभी कुछ विकट, विकराल
भयावह, रौद्र।
आखिर धरती
अपने खोखल हुए बेदम शरीर से
कब तक बनाये रखेगी/संतुलन
प्रकृति से/ स्वयं की
बिगडती आकृति से
फैलती विकृति से
अंतरिक्ष में ग्रहों से जुडे
अदृश्य संबंधों से।

पिचकेगी वह, कहीं न कहीं
फूटेगी वह, कहीं न कहीं
टूटेगी वह, कहीं न कहीं
खिसकेगी वह, कहीं न कहीं
छिटकेगी वह, कहीं न कहीं
अंततः।
मुझे तब भी कुछ अजीब नहीं लगेगा।

जानता हूँ मैं–
थक चुके हैं पर्वत
खड़े–खड़े
हाँफने लगी हैं नदियाँ
तेज धूप में
बहते–बहते।
मैदानों में
सूख रही है हरियाली
आदमी के अंदर तक/
धुआं–धुआं है आसमान/ और
पिघलने लगे हैं पृथ्वी के
दोनों छोर।

दिखता रहता है यह सब
कालचक्र के संगणक पर
चलता रहता है
गणित/अपने आप
निकलता रहता है
हल/अपने आप
मिलने लगते हैं
निर्देश/अपने आप
घटित होने लगता है
परिणाम/अपने आप

प्रकृति की अपनी व्यवस्था है
नियमित, निश्चित, निष्ठुर।
तनिक–सा हस्तक्षेप
कर देता है विकराल/उसके संतुलन को,
भोगती है धरती उसका परिणाम।

प्रकृति को जीतने का दंभ
करती रही हैं सभ्यताएँ/
गिरती रही हैं / एक के बाद एक
बनकर विकृति का इतिहास।

पुनः छेद दिया है
धरती को/दंभी ज्ञान ने
फिर उठा लिया है सर
अंतरिक्ष तक।

फिर
धँसेंगे उसके पैर
इन्हीं छेदों में/और
अंतरिक्ष का राक्षसी मुँह
खा जायेगा उसका सिर/ और
मुझे कुछ भी अजीब नहीं लगेगा।



कोई नहीं रहा है वहाँ

पर्वत की इस चट्टान पर
खड़े होकर किसे पुकारते हो ?

घाटियों में अनुगुंजित हो
तुम्हारी पुकार
किसी की वंशी का स्वर बन
प्रत्युत्तर में नहीं लौटेगी/अब
नहीं कोई पहाड़ी लड़की
भेड़ों को चराती
तुम्हारी पुकार को
अपना मीठा गीत बना
कण्ठ में उतारेगी।
कोई नहीं रहा है वहाँ।
कोई नहीं रहा है वहाँ
पेड़ भी नहीं
वे होते/ किंचित ही सही
सिर हिला तुम्हारी पुकार का
अनुमोदन कर देते
हाथ उठा बुला लेते/तुम्हें
बाहों में भर लेते।
लेकिन पेड़ भी नहीं रहे वहाँ।
सूख चुके नाले
खल-खल कर
तुमसे बोल नहीं पायेंगे,
झरना बन करझर पड़ें तुम पर
इतना पानी
अब कहाँ से लायेंगे ?
पानी नहीं रहा वहाँ।
कोई नहीं रहा वहाँ

आखिर, तुम भी
इन शुष्क ढलानों पर
अपनी नजरों को
कब तक लुढकाते रहोगे ?
किसी आदमी को यहाँ
नहीं खोज पाने की हताशा में
कब तक
स्वयं को निराट
अकेला महसूस करोगे ?

चट्टानें ही हैं
तुम्हारे आसपास
पत्थर ही बचे हैं/कुछ
नीचे लुढ़कने को,
ऊपर आग उगलता
सूरज है/
तुम्हारे प्राण
झुलसने को।
ऐसे में
आदमी कहाँ मिलेगा यहाँ।
सब चले गये
घाटी का सारा जंगल
काटकर
पर्वतों को
अकेला छोड़ गये
सूरज की किरणों में
जलने के लिए।



नभ में गहराता है

नभ में गहराता है
धूएँ का दल,
जलना था, जल गया
सूखा बादल।

सांस रुँधी जाती है,
गँसती है फाँस,
बेदम हो गिरती है –
कण्ठ भरी प्यास।
अंतस में मर गया
धरती का जल।

बिन बोले, बिना लिये
हल्की सी आह,
तिनके–सी टूट गई
फिरती–सी छाँह।
बिखर गये उम्र के
कण–कण हो पल।

दिवस नहीं शेष रहा,
शेष नहीं रात,
गहराता जाता है
मन में अवसाद।
भटके से खोज रहे
बीच में अतल।
नभ से उतराता है
धूएँ का दल।

गाँधी के नाम

तेरे ही देश मे
तेरा ही नाम
गलियों, चौराहों पर
बिकता बेदाम।

तेरे उपदेशों को
सिक्कों में ढाल लिया।
जय-जय के नारों में
तुझको उछाल दिया।
गाँवो के, शहरों के –
चौराहे, मूरत में,
खड़ा किया तुझको, औ'
दिल से निकाल दिया।

पुस्तक में छपा हुआ,
तेरा पैगाम
गलियों, चौराहों पर
बिकता बेदाम।

तूने जो कहा, हुआ
उसके विपरीत।
सेवा को भूल गये,
कुर्सी के मीत।
चरखे के तागे-सा,
टूट गया मन,
सत्याग्रह करता है
हिंसा की रीत।

सत्य को मिली फाँसी,
झूठ को ईनाम
गलियों, चौराहों पर
बँटता बेदाम।

वोटों के भाव बिका
मेरा गणराज।
छेद-छेद चलनी-सा
हुआ रामराज।
जाति, धर्म, वर्ग-भेद
समता के नाम –
अलग-अलग नारे दे
लड़ रहा स्वराज।

जनता ने किया
तीन बंदर का काम।
गलियों, चौराहों पर
बिकते बेदाम।



तुम्हारे ही देश में

तुम्हारे ही देश मे
हम रोज हिंसाएँ कर रहे हैं,
इससे तुम ही नहीं,
तुम जैसे अनेकों गाँधी
रोज मर रहे हैं।

मैं नही समझता –
इस बेहोश,
बदहवास,
अर्द्ध–विक्षिप्त,
स्वार्थ–लौलुप,
हिंसक सभ्यता में –
इस तरह बार–बार मरकर,
तुम्हारे जीवित रहं जाने का
कोई अर्थ रह गया है।

फिर भी कुछ लोग
स्वयं को जिंदा रखने के लिए
स्वय के अर्थ
तुम्हारे हर क्षण मरते रूप को
जिदा रखेंगे।

ऐसा वे करेंगे।
ऐसा करने से उन्हें
तुम्हारे सत्याग्रह
असहयोग
रोक नहीं सकेंगे

ऐसा करते तुम
पूरे मर भी जाओ, तो भी
वे तुम्हारा नाम चलायेंगे
सिक्के में ढाल
मुद्रा बनायेंगे
या चबूतरा या भवन
या मंदिर या स्टेच्यू
बनाकर
तुम्हें धरती से ऊँचा उठा देगें,
तुम्हें देवता बना देगें।
तुम्हे मनुष्य नहीं रहने देगें।

ओ मेरे समय के लोगों !
मनुष्य न बने रहने का दण्ड
तुम उसे चाहो तो, दो
मुझे इसका साक्षी न बनाओ।
इतिहास में अब तक
यही होता रहा है,
तुम चाहो तो
पुनः दोहराओ।



डॉ. राममनोहर लोहिया
के निधन पर

तुम –
ऐसे हृदय–हीन देश में
पैदा हुए / जहाँ
तुम्हारी हृदय की धड़कन,
तुम्हारी करुणा व संवेदना,
वाणी की छैनी से जीवन कुरेदना –
उनके हृदयों में धड़कनें
पैदा नहीं कर पाई
जो
सबसे अधिक धड़कते दिलोंवाले
होने का दावा करते रहे हैं।

तुम,
शायद ऐसे पंगु देश में पैदा हुए
जहाँ लोग स्वयं
अपने पैरों को काट
दूसरों की बैसाखियों पर
धर्म और धन्दे के नाम
अंधों के पीछे तो भागते रहे
तुम्हारे पीछे
चल नहीं पाये।

तुम,
उन लोगो के मस्तिष्क के
ठीक बीच से
नहीं गुजर सके,
जो अपनी रोजी--रोटी
सुरक्षित रखने के लिये,
समझौते का सिद्धांत अपना,
अपना "स्व"
ऐसे लोगों को
समर्पित कर बैठे हैं,
जो --
उनकी रोजी -- रोटी को
कत्ल करने का बार -- बार
भय दिखाते हैं,
और,
ये टूटे लोग दर्द से चीख न दें,
उन्हें
मीठे सपनों की
अफीम भी खिलाते हैं।

तुम,
उस देश में जिये --
जहाँ कुछ लोग
परम्परा, यथास्थिति
व नियति को
जीवन की आधुनिकता में
बदलने का दावा करते हैं और

तुम्हारी क्रियाओं को
प्रतिक्रियावादी घोषित कर,
देशवासियों को
नव-संस्कृति का
धीमा जहर देते हैं।
ये ही लोग
"प्रगति के लिये धीमा चलो"
को धुरी बना
अपने रथ को
किसी पहाड़ी के ढलान पर
बेलगाम छोड़
पश्चिमी देशों के
निकट पहुँचना चाहते हैं, और
पश्चिम में उगे सूरज से
अपने खेतों के पकने की
भीख माँगते हैं।
ये लोग,
तुम्हें कभी पसंद नहीं कर सके,
सहन नहीं कर सके,
क्योंकि, तुमने
उसी रथ की धुरी को तोड़
उर्ध्वगति से
चलने हेतु
जनता का आह्वान किया था
उनके नेतृत्व को वीर
मूर्ति को
अपने प्रबल प्रहारों से
तोड़ना चाहा था लेकिन

मोह-भंग के इन क्रिया-क्षणों मे,
ध्रुवीकरण से पहिले ही
तुम/खुद
उसकी धुरी बनते—बनते
टूट गये।
एक मोर्चे में
संयुक्त होने से पूर्व ही
सब सूत्र
तुम्हारे आकर्षण से
छूट गये।
लगता है
इस देश को
फिर एक धुन्ध
आवृत करेगा,
नीचे से ऊपर उठता जीवन
दण्डाकारण्य में
फिर
गाय के गोबर से
गेहूं के दाने से निकालेगा... और ....
ऊपर हाथ उठा
आकाश से
समाजवाद माँगेगा।
भले ही –
मैं तुम्हारी ओर से कहता रहूँ –
समाजवाद
ऊपर आसमान से
नीचे नहीं उतरता – वह –
धरती में पैदा होता है –
धरती से निकलता है।

तुलसी से

वर्तमान के दरारों भरे
दर्पण के तल से
जब-जब भी मैंने
तुम्हारा प्रतिबिंब उभारना चाहा
तब तब मुझे
दरारों से विखंडित/कटा-पिटा
रक्तसना मेरा ही चेहरा दिखा
सींकचों में बंद जैसा।

तुम्हारे और मेरे
समय की दूरी,
तुम्हारे और मेरे
वर्तमान का अंतर
मुझे गोस्वामी बनने नहीं देता
असीघाट पर बिठाकर मुझसे
रामराज्य की कल्पना नहीं करवाता।
उत्तेजित चेतना के बावजूद/मैं
अपने समय के चित्रण हेतु
राम-रावण जैसे
प्रतीक खोज नहीं पाता।

यह विडंबना ही है-
कुछ निष्कासित रामों
और बहुत से रावणों के होते हुए
मैं किसी राम को
किसी भी एक रावण के विरुद्ध
खडा नहीं कर पाता।
कोई रामचरित गढ नहीं पाता।

तुम्हारे समय में
विदेशी सत्ता के बावजूद/तुम
उसके समान्तर
देश व संस्कृति की रक्षा के लिए
रामराज्य की रचना कर सके थे।
और मेरे समय में.....?
व्यवस्था और राजनीति
दोनों ही हिंसक हैं
मेरी विवशता यह है–
मैं इन्हें अपनी कविता का
विषय नहीं बना पाता।

मेरी वाणी कातर है
'स्व' की सुरक्षा में
कलम लँगडाती है
शब्द को आज का अर्थ देने में।

मेरी रोटी पर
किसी एक पार्टी की
छाप लगी है।

स्वतंत्र आकाश के होते हुए भी
मेरा सोच
कोई गूंज
पैदा नहीं कर पाता।

इस भय, अविश्वास
आशंका, हिंसा के वातावरण में
फिर भी/समर्पण को
अपनी नियति बनाना नहीं चाहता।

लेकिन
मेरे समय का कोई राम
भुजा उठाकर, मही को
निशिचरहीन करने का
प्रण भी कहाँ करता है?

ऐसे में
जो मेरे हमकलम, हमसफर हैं, वे
तुम्हारे समान
अकबर की मनसबदारी का
मोह कहाँ छोड पाते हैं,
वे तो मेरा साथ छोडकर
दिल्ली या भोपाल पहुँच जाते हैं।
ऐसे में तुम्हारे आदर्श/सोच
कहीं उन्हें नंगा न कर दें
वे अपने तर्कों की तलवार
तुम्हारी गर्दन तक पहुँचाते हैं
अपनी रचनाओं में भावों की जगह
मंत्र बोलने लगते हैं।

ऐसे में
आज के ये भरत, ये लक्ष्मण
ये शत्रुघ्न, ये हनुमान
ये वशिष्ठ, और
यह सारा देश ही
दिनभर स्वार्थ और सुरक्षा की
रोटियाँ सेकता है
और शाम को
निश्चिंतता की डकार लेकर

केवट को हृदय लगाने वाले
राम के कीर्तन में
रात-रात भर जागता है,
और वही
हरिजनों को आग में
जिन्दा जलाता है,
वही
पुण्य कमाने तीरथ जाता है,
भागवत कथा कराता है,
अपनी काली कमाई चमकाने
मंदिरों के कलशों पर
स्वर्ण आलेपित करवाता है।
अपने हरिजन प्रेम का
आरक्षण करवा
अपने वोट सुरक्षित करता है।

ऐसे में-
मैं अकेला चिल्लाऊँ
या व्यवस्था से लड़ूँ
या लवकुश के द्वारा
तुम्हारा राम-चरित गवाऊँ/तो
क्या होना है ?
परिणाम जानता हूँ-
मेरे चेहरे पर
दरारें और बढ़ जायेंगी
और कटा-पिटा होकर वह
रक्तसना हो जावेगा।
भूख, गरीबी और संघर्ष से टूटकर
यही सोचता रहूँगा-
तुम कवि होने के लिए अभिशप्त हुए थे
मैं कवि होकर भी अभिशप्त हूँ।

श्री नेहरू के निधन पर

हिमालय के बर्फीले भाल पर
कोई खरोंच उधर आई,
फिर एक आघात हुआ –
मौत ने उसे छू लिया।

गगा जमुना के जल में
जाने कितने आँसू घुल गये,
उनका सारा जल खारा हो गया।

हरे भरे खेतों की
छातियाँ दरक गई।
निर्माणों की आधार-शिला
नीचे से सरक गई।

मिलो की मशीनें, चिमनियाँ
दर्द से चीख उठीं।
बाँधों के चढते जल में –
लपटें-सी दीख उठीं।

कोई भूकम्प नहीं आया,
केवल –
सफेद सी अचकन पर
टंगा हुआ गुलाब
मुरझाकर खिर गया।
सारा आकाश
काले बादलों से घिर गया।